शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

आश्विन : २४८० ❀ वर्ष दसवाँ ❀ अंक छठवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

❀ सर्वज्ञदेव को नमस्कार हो।

❀ धर्म का मूल सर्वज्ञ है।
मोक्षमार्ग के मूल उपदेशक श्री सर्वज्ञदेव हैं; इसलिये जिसे धर्म करना हो, उसे सर्वज्ञ को पहिचानना चाहिए।

❀ निश्चय से जैसा सर्वज्ञ भगवान का स्वभाव है, वैसा ही इस आत्मा का स्वभाव है; इसलिये सर्वज्ञ को पहिचानने से अपने आत्मा की पहिचान होती है; जो जीव, सर्वज्ञ को न पहिचाने, वह अपने आत्मा को भी नहीं पहिचानता।

❀ समस्त पदार्थों को जाननेरूप सर्वज्ञत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है, किन्तु पर में कुछ फेरफार करे, ऐसी शक्ति आत्मा में कभी नहीं है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[११४]

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ सौराष्ट्र

प्रभावना

पूज्य गुरुदेव के प्रताप से सत्य की प्रभावना में दिन-प्रतिदिन वृद्धि हो रही है, और आपश्री जिस अपूर्व तत्त्वज्ञान को समझा रहे हैं, उसका श्रवण करने के लिये दूर-दूर के अनेक जिज्ञासु भी उत्कंठित हो रहे हैं। इस वर्ष पर्यूषण पर्व के अवसर पर इन्दौर, खंडवा और उदयपुर से साग्रह आमंत्रण आने से शास्त्रवांचन के लिये उन स्थानों पर जैन स्वाध्याय मंदिर, सोनगढ़ के भाईयों को भेजा था।

श्रीमान् सर सेठ हुकमचंदजी इन्दौर ने अपने यहाँ के जिज्ञासा बंधुओं की इच्छा से तार दिया था। अत: भाईश्री खीमचंद जेठालाल सेठ वहाँ गये थे। भाईश्री अमृतलाल नरसीभाई सेठ तथा ब्र. भाईश्री अमृतलालभाई को क्रमश: दिगम्बर जैन समाज खंडवा और उदयपुर के आमंत्रण से उन-उन स्थानों पर भेजा था।

इन तीनों स्थानों के हजारों भाई-बहिनों ने बहुत प्रेमपूर्वक धर्म-लाभ लिया और पूज्य गुरुदेव के द्वारा होनेवाली जैनशासन की प्रभावना देखकर प्रसन्न हुए थे। इन्दौर तथा उदयपुर में 'मानस्तम्भ-प्रतिष्ठा महोत्सव सोनगढ़' की फिल्म भी दिखाई थी, जिसका हजारों मनुष्यों ने लाभ लिया था।

सत्य-श्रवण के प्रति उत्साह, उल्लास और उत्कंठा बताने के लिये इन तीनों नगरों के जिज्ञासु धन्यवाद के पात्र हैं।

आत्मधर्म

आश्विन : २४८० वर्ष दसवाँ अंक छठवाँ

अपूर्व सम्यग्दर्शन होने की रीति

और

सम्यग्दृष्टि की भवभ्रमण से छूटने की नि:शंकता

[श्री मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(सोनगढ़ : वीर सं. २४७९ चैत्र शुक्ला २)

सम्यग्दृष्टि शुद्धनयरूपी अतीन्द्रिय चक्षु द्वारा अपने आत्मा को शुद्धरूप से देखता है, अंतर में उसके ज्ञानचक्षु खुल गये हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे, जीव! तू अपनी शुद्धनयरूपी आँखों को खोल और अपने आत्मा को शुद्ध ज्ञायकस्वरूप से देखे।—ऐसी दृष्टि के बिना कभी भवभ्रमण का अंत नहीं आता... जो जीव ऐसा अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, उसका परिणमन बदल जाता है, उसे अनन्तभव की शंका दूर हो जाती है और आत्मा में से सिद्धदशा की झन्कार उठती है। अन्तर्मुख होकर आत्मा के भूतार्थस्वभाव का अनुभव करना—वह अपूर्व सम्यग्दर्शन होने की रीति है।

❀ **भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवई जीवो**

धर्म का मुख्य प्रारम्भ कैसा होता है—वह इस समयसार की गाथा में आचार्यदेव ने बतलाया है। इस देह में विद्यमान प्रत्येक आत्मा अनंत गुणों का पिण्ड है; उस आत्मा के अभेद स्वरूप के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन होता है; वह सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है; वहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है। इसके अतिरिक्त किसी निमित्त के, राग के, पर्याय के या व्यवहार के अवलम्बन से

धर्म नहीं होता। सम्यग्दर्शन के काल में देव-गुरु—इत्यादि निमित्तों का संयोग हो, परन्तु उनके अवलम्बन से सम्यग्दर्शन नहीं होता; उस समय जो शुभराग हो, उसके अवलम्बन से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता; पर्याय में ज्ञान का विकास हो, उसके अवलम्बन से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता; और अखण्ड आत्मा के ज्ञानदर्शनादि गुणों के भेद करके लक्ष में लेने से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता—नित्य एकरूप अभेद आत्मा के अवलम्बन से ही सम्यग्दर्शन होता है। निमित्त, राग, पर्याय और गुण-भेद—इस सारे व्यवहार को अभूतार्थ करके अर्थात् उसकी दृष्टि छोड़कर भूतार्थरूप अभेद आत्मा को दृष्टि में लेना, वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन कहो... शांति कहो... हित कहो... श्रेय कहो, कल्याण कहो... धर्म कहो अथवा अनादिकालीन अज्ञान का नाश कहो—उसकी यही रीति है, इसके अतिरिक्त अन्य रीति से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

व्यवहारनय, परमार्थ का प्रतिपादक हे—ऐसा कहा था, परन्तु वह व्यवहार अंगीकार करने जैसा नहीं है, क्योंकि व्यवहार के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। शुद्धनय आत्मा के परमार्थ स्वरूप को बतलाया है; इसलिये वह अंगीकार करने जैसा है; उसके अवलंबन से सम्यग्दर्शन होता है। यद्यपि शुद्धनय स्वयं तो पर्याय है, परन्तु यहाँ अध्यात्मदृष्टि में शुद्धनय और उसका विषय—दोनों अभेद हैं, इसलिये शुद्धनय को भी भूतार्थ कहा है। जो शुद्धनय से आत्मा के परमार्थ स्वरूप को देखते हैं, वे ही सम्यग्दृष्टि हैं। शिष्य ने पूछा था कि व्यवहारनय क्यों अनुसरण करने योग्य नहीं है ?—उसके उत्तर में आचार्यभगवान कहते हैं कि शुद्धनय द्वारा आत्मा के परमार्थ स्वभाव का आश्रय करने से ही सम्यग्दर्शन होता है; व्यवहारनय का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन नहीं होता; इसलिये व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।

❀ सम्यग्दृष्टि के खुले हुए नेत्र

अनादिकाल से आत्मा को भूलकर जिसे विकार और जड़कर्म की रुचि है तथा कर्मोदय के कारण जीव को विकार होता है—ऐसा जो मानता है, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव को आत्मा और कर्म के पृथक्त्व का विवेक नहीं है; इसलिये उसे तो कर्म के संयोगवाला अशुद्ध आत्मा ही भासित होता है, परन्तु कर्म के संयोग से रहित आत्मा का शुद्धस्वभाव भासित नहीं होता। पर्याय में विकार और कर्म का संयोग होने पर भी, धर्मी जीव शुद्धनय द्वारा आत्मा और कर्म की भिन्नता का विवेक करके अंतर में अपना शुद्ध ज्ञायकस्वभाव को ही अनुभवन करता है। इसप्रकार शुद्धनय द्वारा आत्मा के सम्यक् स्वभाव का अवलोकन करनेवाला सम्यग्दृष्टि है। अज्ञानी के शुद्धनयरूपी नेत्र ही नहीं खुले हैं;

इसलिये वह विकार को देखता है, किन्तु शुद्ध आत्मा को नहीं देखता; शुद्ध आत्मा को देखने के लिये वह अंध है। सम्यक्दृष्टि तो शुद्धनयरूपी अतीन्द्रिय चक्षु द्वारा अपने आत्मा को शुद्धरूप देखता है, अन्तर में उसके ज्ञानचक्षु खुल गये हैं।

जिसप्रकार किसी की आँख में कंकरी घुस गई हो, उसे कुछ दिखाई नहीं देता, उसीप्रकार व्यवहार के आश्रय से लाभ होता है—ऐसी विपरीत मान्यतारूपी कंकरी के कारण अज्ञानी जीव की दृष्टि विमोहित हो गई है, इसलिये वह आत्मा के सच्चे स्वरूप को नहीं देख सकता।—ऐसे व्यवहार से विमोहित दृष्टिवाले जीव को आत्मा और कर्म के भिन्नत्व का विवेक नहीं है, जीव का स्वभाव क्या और विकार क्या—उसके भेद की उसे खबर नहीं है। कर्म प्रेरक होकर मुझे विकार कराता है, और मैं कर्म जितना ही हूँ—ऐसा वह मानता है, इसलिये उसे एकाकार ज्ञानमूर्ति आत्मा ढँक गया है,—उसे वह नहीं देख सकता। उससे आचार्यदेव कहते हैं कि अरे, जीव! तू अपने शुद्धनयरूपी नेत्रों को खोल और अपने आत्मा को कर्म से और विकार से भिन्न एकाकार शुद्ध ज्ञायकस्वरूप से देख।—ऐसे आत्मा को देखना, वही सच्ची दृष्टि है और ऐसी दृष्टि ही मुक्ति का कारण है; ऐसी दृष्टि प्रगट किए बिना कभी भवभ्रमण का अन्त नहीं आता।

❀ अज्ञानी भव को देखता है, ज्ञानी भवरहित स्वभाव को देखता है

भले ही त्यागी होकर व्रत-तप के शुभभाव करता हो, परन्तु जिसके अंतर में ऐसी संदेह दृष्टि वर्त रही है कि—'मुझे अनंत भव करना होंगे'—वह जीव अनंतानुबन्धी कषाय में विद्यमान है, क्योंकि जहाँ अनंतभव होने की शंका वर्त रही है, वहाँ उसके कारणरूप अनंतानुबन्धी कषाय विद्यमान ही है। उस जीव ने आत्मा के भवरहित स्वभाव को देखा ही नहीं है। इस ओर अंतर में चैतन्यस्वभाव को अनंत सामर्थ्य की असित से च्युत हुआ, इसलिये अज्ञानी को उससे विरुद्ध ऐसे अनंत भव का अस्तित्व भासित हुआ। ज्ञानी की दृष्टि में तो अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव का अस्तित्व भासित हुआ है और उस स्वभाव में भव की नास्ति है; इसलिये उसे भव की शंका नहीं होती। अज्ञानी को विपरीत दृष्टि में भव ही दिखाई देते हैं, परन्तु ज्ञानस्वभाव दिखाई नहीं देता; ज्ञानी भूतार्थदृष्टि से अकेले ज्ञानस्वभाव को देखता है, उसमें भव है ही नहीं।

❀ जीव और कर्म के भेद का अभ्यास

अज्ञानी जीव, कर्म के प्रभाव से विकार होना मानता है; उसे विकार और विकार के निमित्तरूप कर्म के साथ एकता बुद्धि है, परन्तु भिन्न स्वभाव की दृष्टि नहीं है; इसलिये वह जीव

व्यवहार से विमोहितदृष्टिवाला है। स्व-पर की एकत्वबुद्धि से जीव, संसार में परिभ्रमण करता है, और स्व-पर का भेदज्ञान करके उस भेदज्ञान के अभ्यास के बल से वह मुक्ति प्राप्त करता है। नियमसार की ८२ वीं गाथा में कहते हैं कि—

इदृग्भेदाभ्यासे मध्यस्थो भवति तेन चारित्रम्।
तदृढीकरणनिमित्तं प्रतिक्रमणादि प्रवक्ष्यामि॥८२॥

—अर्थात् जीव और कर्म के भेद का अभ्यास होने से जीव माध्यस्थ होता है; इसलिये चारित्र होता है। और १०६ वीं गाथा में कहते हैं कि—

एवं भेदाभ्यासं यः करोति जीवकर्मणोः नित्यम्।
प्रत्याख्यानं शक्तो धर्तुं स संयतो नियमात्॥१०६॥

—इसप्रकार जो सदैव जीव और कर्म के भेद का अभ्यास करता है, वह संयत नियम से प्रत्याख्यान धारण करने के लिये शक्तिमान है। जिसे जीव और कर्म के भेद का ज्ञान नहीं है, उसे कभी सम्यक्चारित्र नहीं होता। यहाँ कर्म और जीव के भेद का अभ्यास कहा,—अर्थात् क्या ?—कि कर्म से भिन्न शुद्ध ज्ञानानंद आत्मा को जानकर, उसमें एकाग्रता का अभ्यास करना, उसका नाम जीव और कर्म के भेद का अभ्यास है, और वह मुक्ति का कारण है।

'कर्म के उदयानुसार विकार करना ही पड़ता है, ग्यारहवें गुणस्थान पर चढ़ा हुआ जीव भी कर्मोदय के कारण गिर जाता है'—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे कर्म और जीव के बीच का भेदज्ञान नहीं है। कर्मोदय के अनुसार ही विकार होता है,—ऐसा तो किसी जीव को नहीं होता। यदि उदयानुसार ही विकार होता हो, तब तो किसी भी प्रकार का पुरुषार्थ करना जीव के हाथ में नहीं रहता। बस! जैसा उदय आये, वैसा परिणमित होता रहना—इस मान्यता में तो निगोद में से निकलने का भी अवकाश नहीं रहा। उदय के प्रमाण में विकार होता है—वह मान्यता तो बिलकुल विपरीत है।

और ग्यारहवें गुणस्थान में तो मोहकर्म का उदय है ही नहीं, तब फिर कर्मोदय के कारण ग्यारहवें गुणस्थान से गिरा—यह बात ही कहाँ रही ? ग्यारहवें गुणस्थान से नीचे गिरनेवाला अपनी पर्याय की उसप्रकार की निर्बलता से ही गिरता है, कर्मोदय के कारण नहीं। अरे! अनादि से निगोद में रहनेवाला जीव भी अपने वैसे विपरीत भावों से वहाँ रहा है। श्री गोम्मटसारजी में भी कहा है कि:—

अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भावकलंकसुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति॥१९७॥

जो अनादिकाल से त्रसपने को प्राप्त नहीं हुए हैं—ऐसे अनंत जीव निगोद में हैं; वे अपने सुप्रचुर भावकलंक के कारण ही निगोदवास को नहीं छोड़ते।

अरिहंत भगवान चार अघाति कर्मों के उदय के कारण संसार में रुके हैं—ऐसा जो वास्तव में मानता है, वह भी मूढ़ है। वास्तव में वे कर्म के कारण नहीं रुके हैं, परन्तु उनके आत्मा में अभी उसप्रकार के विभाव की योग्यता है; इसलिये उन्हें संसार अवस्था है। अभी तो जिसकी ऐसी मान्यता है कि कर्म के कारण जीव को विकार होता है, उसे कर्म और आत्मा के भिन्नत्व का भान नहीं है, इसलिये विकार के साथ तो उसे एकत्वबुद्धि होती है। जहाँ विकार में एकत्वबुद्धि हो, वहाँ शुद्धात्मा की निःसन्देह प्रतीति नहीं होती; और शुद्धात्मा की प्रतीति बिना अनंतभव का सन्देह यथार्थरूप से दूर हो ही नहीं सकता।

❀ क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में आनेवाली निःसंदेहता

जहाँ अनंत भव का संदेह है, वहाँ धर्म की अंशमात्र रुचि नहीं है

यहाँ कोई विपरीतदृष्टिवाला जीव ऐसा कुतर्क करे कि—'हमें क्रमबद्धपर्याय में अनंतभव होना होंगे तो अथवा हमें क्रमबद्धपर्याय में मिथ्यात्व होना होगा तो?'—तो श्री आचार्यदेव उससे कहते हैं कि—अरे मूढ़! तू क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं है। क्रमबद्धपर्याय की यथार्थ प्रतीति करनेवाले को तो ज्ञानस्वभाव की दृष्टि हो गई, उसका परिणमन ज्ञान की ओर उन्मुख हो गया, उसे अब अनंतभव हो ही नहीं सकते। ऐसा होने पर भी जो ऐसा सन्देह करता है कि 'मेरी क्रमबद्धपर्याय में अनंतभव होंगे तो?'—वह जीव तीव्र मिथ्यादृष्टि है; उसने न तो आत्मा को देखा, न सर्वज्ञ को देखा और न क्रमबद्धपर्याय को माना; अनंतभव की शंकावाले जीव को धर्म की अंशमात्र रुचि नहीं हुई है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म तो भव के नाश का कारण है—ऐसे धर्म का सेवन करे और अनंतभव की शंका रहे—ऐसा कदापि नहीं हो सकता। सरोवर के किनारे जाये तो शीतल पवन आती है और विश्वास हो जाता है कि अब पानी निकट ही है; उसीप्रकार जिसे आत्मा के धर्म की सम्यक् रुचि हुई, उसे अन्तर से अपूर्व शांति की झंकार उठती है और अल्पकाल में मोक्ष होने का निःसंदेह विश्वास हो जाता है। जिसे ऐसी निःशंकता नहीं है और भव

का सन्देह है, वह जीव, कर्म से भिन्न आत्मा को नहीं देखता परन्तु कर्म को और अशुद्ध आत्मा को ही देखता है।

जिसप्रकार—'केवली भगवान ने मेरे अनंतभव देखे होंगे....'—ऐसे संदेहवाला जीव मिथ्यादृष्टि है, उसने वास्तव में केवलीभगवान को जाना ही नहीं है; उसीप्रकार—'क्रमबद्ध पर्याय में अपने को मिथ्यात्व आयेगा...'—ऐसी शंकावाला जीव भी मिथ्यादृष्टि ही है, उसने वास्तव में क्रमबद्धपर्याय को जाना ही नहीं। जिसप्रकार केवलीभगवान का यथार्थ निर्णय करनेवाले को अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हो जाती है; उसीप्रकार जिसने क्रमबद्धपर्याय को यथार्थतया जाना हो, उसे कर्म से भिन्नता की दृष्टि होकर स्वद्रव्य का आश्रय हो जाता है और मिथ्यात्व का अवश्य नाश हो जाता है। कर्म के साथ के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पर दृष्टि रखकर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि क्रमबद्धपर्याय का प्रवाह तो द्रव्य में से आता है; इसलिये द्रव्य-सन्मुख दृष्टि से ही उसका निर्णय होता है; और जिसने ऐसा निर्णय किया, उसकी वर्तमान पर्याय तो द्रव्य की ओर उन्मुख हो गई है; इसलिये उस पर्याय में मिथ्यात्व रहा ही नहीं, और मिथ्यात्व के क्रम की शंका भी वहाँ रहती ही नहीं। जिसप्रकार केवलज्ञान की प्रतीति और अनंतभव की शंका—यह दोनों कदापि एक साथ नहीं होते; उसीप्रकार क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय और मिथ्यात्व का क्रम—यह दोनों भी साथ होते ही नहीं। जिसे क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हुआ हो, उसे कर्म और आत्मा की भिन्नता का विवेक हो ही जाता है और उसकी दृष्टि पर के ऊपर से च्युत होकर आत्मा की ओर उन्मुख हो जाती है, उसे अनंत संसार होने का संदेह नहीं होता। 'मुझे अभी अनंत-संसार बाकी होगा तो ?'—ऐसा जिसे सन्देह है, उसकी दृष्टि कर्म पर ही है, उसे क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हुआ ही नहीं है।

'द्वादशानुप्रेक्षा' की ३२१-२२ वीं गाथा में कार्तिकेयस्वामी ने महान सिद्धान्त बतलाया है। सम्यग्दृष्टि को वस्तुस्वरूप का कैसा निश्चय होता है, वह वहाँ बतलाया है, उसमें गंभीर रहस्य है। चेतन या जड़ जिस पदार्थ की जिससमय जैसी पर्याय होने का स्वभाव है, वैसी ही पर्याय होती है, उसे जानने का आत्मा का स्वभाव है। क्रमबद्धपर्याय तो ज्ञेय है, उसे जाननेवाला ज्ञान है। उस ज्ञानस्वभाव के निर्णय बिना ज्ञेय का अर्थात् क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करेगा कौन ? सर्वज्ञता के निर्णयपूर्वक जिसने क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया, उसके अनंतभव सर्वज्ञ ने देखे ही नहीं। वास्तव में जिसने क्रमबद्धपर्याय और सर्वज्ञ का निर्णय किया है, उसने अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय

किया है, उसे वर्तमान में ही परितसंसारीपना हो गया है, और सर्वज्ञदेव ने भी ऐसा ही देखा है। केवली भगवान ने जिसका अनंतकाल के पश्चात् परितसंसार होना देखा है, उसे वर्तमान में ही परितसंसार हो जाये—ऐसा कभी नहीं हो सकता—परन्तु जिसके ज्ञान में केवलज्ञान का ऐसा निर्णय हुआ, उसके अनंतभव केवली भगवान ने देखे हों—ऐसा भी नहीं हो सकता। मुझे अनंतभव करना पड़ेंगे—ऐसे भयवाले जीव ने वास्तव में सर्वज्ञ को माना ही नहीं है। सर्वज्ञ को पहिचान ले और अनंतभव का भय दूर न हो—ऐसा हो ही नहीं सकता। देखो तो, वस्तुस्थिति का मेल! अन्तर में 'ज्ञान' का निर्णय करना, वह अपूर्व वस्तु है, परन्तु बाह्यदृष्टि-जीव उसका मूल्यांकन नहीं कर पाते।

❀ जड़कर्म को ही आत्मा माननेवाले मिथ्यादृष्टि जीवों का अभिप्राय

आत्मा 'ज्ञ' स्वभावी है, उसका स्वभाव सर्वज्ञ होने का है। सर्वज्ञ होने का सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में भरा है। समयसार में कहते हैं कि—

स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छनः।
संसारसमापन्नो न विजानाति सर्वतः सर्वम्॥१६०॥

आत्मा का स्वभाव तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, परन्तु अनादिकाल से अपने ही पुरुषार्थ के अपराध के कारण वह अपने ऐसे स्वभाव को नहीं जानता और अज्ञानभाव से वर्तता है। आत्मा में केवलज्ञान होने का स्वभाव है, परन्तु पर्याय में वह अपने ही अपराध से ढँका हुआ है; जड़कर्म ने उसे ढँका है—ऐसा कहना, वह निमित्त का कथन है; वास्तव में जड़कर्म ने ज्ञान को नहीं ढँका है। जड़कर्म के कारण आत्मा का ज्ञान रुक गया—ऐसा जो मानता है, उसकी दृष्टि अभव्य जैसी है। एक तो—आत्मा में सर्वज्ञता की शक्ति को न माननेवाले, और दूसरे—कर्म के कारण आत्मा की ज्ञानशक्ति रुकी हुई है—ऐसा माननेवाले,—वे दोनों प्रकार के जीव मिथ्यादृष्टि हैं, उनकी दृष्टि अज्ञान से विमोहित हो गई है, वे वास्तव में कर्म को ही आत्मा माननेवाले हैं।

आत्मा में जड़कर्म हैं ही नहीं, आत्मा और कर्म के बीच अत्यन्त भिन्नता है,—ऐसी जिसकी दृष्टि नहीं हैं और निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के समस्त जीवों को कर्म के कारण ही संसार है—ऐसा जो मानते हैं, वे व्यवहारमूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं; वे कर्म को ही आत्मा माननेवाले हैं; कर्म से भिन्न आत्मा को वे नहीं जानते।

जिसप्रकार त्रिकाली द्रव्य और गुण अहेतुक सत् हैं; उसीप्रकार उनकी समय-समय की पर्यायें भी अहेतुक सत् हैं; उनमें विकारी पर्याय के समय कर्म निमित्तरूप से होते हैं, परन्तु जीव के

विकार में कर्म का एक अंश भी नहीं है। कर्म, विकार कराते हैं, यह मूढ़ जीव की मान्यता है। कोई ऐसा कहते हैं कि कार्य में पचास छदाम उपादान के और पचास निमित्त के; और दूसरे कोई ऐसा कहते हैं कि—पुरुषार्थ के इक्यावन छदाम और कर्म के उनन्चास छदाम-यानी उन्होंने पुरुषार्थ का एक छदाम अधिक रखा,—परन्तु उन दोनों की बात मिथ्या है; यदि किसी का एक भी छदाम दूसरे में हो तो! उपादान के पूरे सौ छदाम उपादान में हैं और निमित्त के निमित्त में हैं। विकार के पूरे सौ छदाम विकार में हैं और कर्म के कर्म में हैं। आत्मा और कर्म दोनों के एकत्रित होने से विकारभाव हुआ—ऐसा नहीं है। आत्मा में कर्म का मिश्रण हो गया है, इसलिये आत्मा के आनंद का स्वाद नहीं आता—ऐसा नहीं है; परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव राग को ही अपना स्वरूप मानकर उसके स्वाद में रुक जाता है और भूतार्थ स्वभाव की ओर उन्मुख होकर शुद्धात्मा का अनुभव नहीं करता इसलिये उसे अपने आनंद का स्वाद नहीं आता।

और सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् तुरन्त चारित्र क्यों नहीं ले सकते? कि—चारित्रमोह कर्म का उदय है;—ऐसा निमित्त से कहा जाता है परन्तु वास्तव में वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। उपचार से कथन किया जाये, वह अलग बात है और मूलसिद्धान्त अलग है। कोई तो ऐसा कहते हैं कि आत्मा तो कर्म का खिलौना है; जिस तरह कर्म खिलायें, उसीप्रकार आत्मा को खेलना पड़ता है!—परन्तु यह बात बिलकुल मिथ्या है।—ऐसी विपरीत मान्यतावाले अज्ञानी जीव, कर्म को ही आत्मा मानते हैं; कर्म से भिन्न स्वभाव की उन्हें श्रद्धा ही नहीं है, और भूतार्थस्वभाव की श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

मैं एक अखण्ड ज्ञायकभाव हूँ, निमित्तों के साथ मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है—ऐसी भूतार्थस्वभाव की दृष्टि अज्ञानी जीव करता नहीं है, और आत्मा का अशुद्धरूप से ही अनुभव करता है; परन्तु भूतार्थस्वभाव के अनुभव बिना कदापि कल्याण नहीं हो सकता। अभी जो ऐसा मानता है कि कर्म मुझे अशुद्धता कराते हैं, उसे तो कर्म और आत्मा का भेदज्ञान भी नहीं है; तब फिर विकार से भेदज्ञान करके वह भूतार्थस्वभाव की ओर कैसे उन्मुख होगा? स्वयं क्रोधभाव करे और कहे कि 'क्रोध के उदय से क्रोध हो गया, उसमें मेरा कसूर नहीं है; क्योंकि क्रोध के उदय से जीव को क्रोध होता है—ऐसा गोम्मटसार में भी कहा है।'—तो ज्ञानी उससे कहते हैं कि अरे मूढ़! गोम्मटसार पढ़कर तूने ऐसा सार निकाला? गोम्मटसार में क्या कहा है, उस बात को तू समझा ही नहीं है। वहाँ तो तेरे क्रोध परिणामों के समय कैसा निमित्त उपस्थित होता है, उसका ज्ञान कराने के लिये निमित्त

से कथन किया है। जिसे अंतर्स्वभाव की सच्ची दृष्टि नहीं है, उसके सारे पक्ष भूलयुक्त होते हैं, और जिसे यथार्थ स्वभाव की दृष्टि हुई है, उसके सारे पक्ष यथार्थ होते हैं। दृष्टि का जोर कहाँ जाता है, वही मूलवस्तु है। जिसकी दृष्टि आत्मा के ज्ञायाकस्वभाव पर नहीं है और निमित्त पर दृष्टि है, वह अपने आत्मा को रागी-द्वेषी और अज्ञानी ही मानता है; मैं रागी—मैं द्वेषी—मैं कर्म से बँधा हुआ—इत्यादि अनेक प्रकार से वह अपने को अशुद्धरूप ही मानता है, परन्तु शुद्धनय के पुरुषार्थ द्वारा आत्मा और कर्म का विवेक करके अपने एकाकार शुद्धज्ञायकस्वभाव को वह नहीं देखता है, इसलिये उसे सच्ची तत्त्व-श्रद्धा नहीं होती। जिसने भूतार्थ—दृष्टि प्रगट करके अपने आत्मा को कर्म से भिन्न शुद्ध-ज्ञानस्वरूप जाना, वह सर्व आत्माओं को भी निश्चय से वैसा ही मानता है। और जो जीव अपने आत्मा को अशुद्ध और कर्मवाला देखता है, वह अपनी विपरीत दृष्टि से दूसरे जीवों को भी वैसा ही मानता है; वह विपरीत मान्यतावाला मिथ्यादृष्टि है।

❀ अपूर्व सम्यग्दर्शन होने की रीति और सम्यग्दृष्टि की झंकार

अनादिकालीन मिथ्यादृष्टिपना दूर होकर अपूर्व सम्यग्दर्शन कैसे होता है—वह यहाँ आचार्यदेव ने बतलाया है। वर्तमान एक समय में आत्मा का त्रिकाली शुद्धस्वभाव और पर्याय में विकार—ऐसे दोनों प्रकार एकसाथ हैं। उसमें त्रिकाली शुद्धस्वभाव को भूलकर, विकार ही मैं हूँ, शुभभाव से लाभ होता है—ऐसी जो बुद्धि है, वह मिथ्यात्व है; और वह विकार-बुद्धि छोड़कर त्रिकाली शुद्धस्वभाव ही मैं हूँ—इसप्रकार अन्तर्मुख होकर शुद्धनय से आत्मा के भूतार्थस्वभाव का अनुभव करना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन होने की रीति है। जो जीव ऐसा अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, उसका परिणमन बदल जाता है, उसे अनंतभव की शंका दूर हो जाती है और आत्मा में से सिद्धदशा की झंकार आ जाती है। ●●●

भावलिंगी मुनि का स्वरूप

[''जैनदर्शन-शिक्षणवर्ग'' की उत्तम श्रेणी की परीक्षा में पूछे गये
पहले प्रश्न के उत्तररूप निबंध]

卐 शुद्धोपयोगी दिगम्बर संतों को नमस्कार हो! 卐

मुनिदशा की अलौकिक महिमा है, अहो! मुनिवर तो केवली प्रभु के पड़ौसी हैं, वे पंचपरमेष्ठी पद में युक्त हो गये हैं और केवलज्ञान लेने की तैयारीवाले हैं—मानो अभी हाल श्रेणी लगाकर केवलज्ञान प्राप्त किया या करेंगे—ऐसी उनकी आत्मजागृति है। उस धन्यदशा में दु:ख या क्लेश नहीं है परन्तु सिद्धभगवान जैसा अपूर्व महानन्द है। अहो! धन्य वे मुनिवर! संयमसुधासागर में झूलते हुए उन संतों को नमस्कार हो!

जिसे अपना आत्मकल्याण करना हो, उसे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप बराबर जानना चाहिए; देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान के बिना यथार्थ ज्ञान-श्रद्धा नहीं होते। और देव तथा शास्त्र की पहिचान भी गुरु द्वारा होती है। गुरु का स्वरूप जानने में ही जिसकी भूल हो, उसे तो देव और शास्त्रादि में भी भूल होती है; इसलिये गुरु का स्वरूप यथार्थ रूप से जानना चाहिए।

सामान्यत: तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान के धारी धर्मात्मा भी ज्ञान-गुरु हो सकते हैं, परन्तु यहाँ मोक्षमार्ग में मुख्यत: सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्र के धारक ऐसे दिगम्बर मुनि—वे गुरु हैं। अंतर में सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्रदशा का जो शुद्धोपयोग प्रगट हुआ है, वह मुनिओं का भावलिंग है और ऐसे भावलिंगी मुनिओं को बाह्य में वस्त्ररहित दिगम्बर दशा ही होती है—यह द्रव्यलिंग है। भावलिंगी मुनिओं की अंतर और बाह्य दशा कैसी होती है—उसका विशेष वर्णन मोक्षमार्ग-प्रकाशक में निम्नानुसार किया है:—

❀ मुनिओं की अंतरंग अवस्था

प्रथम जिन्हें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो हुए हैं और फिर विरागी होकर, समस्त परिग्रह छोड़कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके, अंतरंग में उस शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं, परद्रव्य में अहंबुद्धि नहीं रखते, अपने ज्ञानादिक स्वभावों को ही अपना मानते हैं, परभावों में ममत्व नहीं करते, शरीर की अनेक प्रकार की अवस्था होती है और बाह्य में अनेक प्रकार के संयोग-वियोगरूप निमित्त बनते हैं, परन्तु वहाँ किंचित् भी सुख-दु:ख नहीं मानते, अपने

योग्य बाह्यक्रिया जैसी होती है, वैसी होती है, परन्तु उसमें खींचतान नहीं करते, अपने उपयोग को अधिक नहीं घुमाते किन्तु उदासीन होकर निश्चल वृत्ति धारण करते हैं। जब शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं रह सकते, उससमय शुभोपयोग भी होता है, जिसके द्वारा वे शुद्धोपयोग के बाह्य साधनों में, पंचमहाव्रतादि में अनुराग करते हैं, परन्तु उस रागभाव को भी हेय समझकर दूर करना चाहते हैं, और तीव्र कषाय के अभाव से हिंसादि रूप अशुभोपयोग परिणति का तो अस्तित्व ही नहीं रहा है,—ऐसी भावलिंगी मुनिओं की अंतरंगदशा होती है, और जहाँ ऐसी अंतरंगदशा हो, वहाँ बहिरंगदशा कैसी होती है, यह कहते हैं:—

❀ मुनिओं की बहिरंग अवस्था

उपरोक्तानुसार अंतरंग अवस्था होने से भावलिंगी मुनि बाह्य में दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं, शरीर संस्कारादि विक्रिया से रहित हुए हैं, वनखण्डादि में बसते हैं, अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्डित पालन करते हैं—(पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियनिरोध, षट् आवश्यक, केशलुँच, स्नान का अभाव, नग्नता, अदंतधावन, भूमिशयन, स्थिति भोजन, और एकबार आहारग्रहण—यह अट्ठाईस मूलगुण हैं।)

क्षुधा-तृषादि बाईस परीषहों को सहन करते हैं, बारह प्रकार के तप करते हैं, कदाचित् ध्यानमुद्राधारी प्रतिमावत् निश्चल होते हैं, कदाचित् अध्ययनादिक बाह्य धर्मक्रिया में प्रवर्तमान होते हैं, कभी योग्य आहार-विहारादि क्रिया में सावधान होते हैं।

—इसप्रकार जो भावलिंगी जैनमुनि हैं, उन सबकी ऐसी ही अवस्था होती है। ऐसे मुनिवर छट्ठे-सातवें गुणस्थान में आत्मा के अपार आनन्द में झूलते हैं। जिसे बाह्य में वस्त्ररहित दिगम्बरदशा और अट्ठाईस मूलगुण आदि होने पर भी अंतर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भावलिंग प्रगट नहीं हुआ, उसके मुनिदशा नहीं है; और जहाँ बाह्य में ही वस्त्रादि का ग्रहण है तथा २८ मूलगुण नहीं हैं, वहाँ तो द्रव्यलिंग भी नहीं है।

''अपूर्व अवसर'' काव्य में उस धन्यदशा का वर्णन करते हुए श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि—

सर्वभावथी औदासीन्य वृत्ति करी,
मात्र देह ते संयम हेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,

देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव होय जो....
—अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?
नग्नभाव मुण्डभाव सह अस्नानता,
अदन्तधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;
केश, रोम, नख के अंगे शृंगार नहीं,
द्रव्य-भाव संयममय निर्ग्रंथ सिद्ध जो...
—अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?

अहो, यहाँ तो इससमय ऐसे मुनि के दर्शन भी अति दुर्लभ हो गये हैं, परन्तु महाविदेहक्षेत्र में ऐसी दशावाले अनेक मुनि इससमय भी विचर रहे हैं, और मोक्ष की साधना कर रहे हैं। 'साधयति इति साधुः' अर्थात् चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता द्वारा जो आत्मा की मुक्तदशा की साधना करता है, वह साधु है; परन्तु जिसे अभी तक आत्मा का भान ही न हो, वह उसकी साधना कहाँ से करेगा ? और उसके साधुता—मुनिदशा कहाँ से होगी ? सम्यग्दर्शन के बिना तो मुनिदशा हो ही नहीं सकती।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को भी गृहस्थपने में कभी मुनिदशा नहीं होती। सम्यग्दर्शन के पश्चात् अन्तर में विशेष वैराग्यपूर्वक सर्वसंग परित्यागी होकर, अंतर्स्वरूप में एकाग्रता के उग्र पुरुषार्थ द्वारा चारित्रदशा प्रगट करके मुनि होते हैं। जिसप्रकार छूछे, नरेली और ललामी—इन तीनों से खोपरे का सफेद-मीठा गोला पृथक् है; उसीप्रकार शरीर, कर्म और राग-द्वेष—इन तीनों से पार चैतन्यानंद का गोला आत्मा है, उसके अतीन्द्रिय अनुभव में निर्विकल्परूप से एकदम लीन होने से मुनिओं को पहले सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है। ऐसे आत्मानुभव के बिना किसी जीव के मुनित्व नहीं होता। और ऐसी मुनिदशा के बिना किसी भी जीव को केवलज्ञान या मुक्ति नहीं होती।

''श्रामण्यमार्ग के प्रणेता'' भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव प्रवचनसार की २०५-२०६ वीं गाथा में श्रमण के अंतरंग और बहिरंग लिंगों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि:—

यथाजातरूपजातमुत्पाटितकेशश्मश्रुकं शुद्धम्।
रहितं हिंसादितोऽप्रतिकर्म भवति लिंगम्॥२०५॥
मूर्च्छारम्भवियुक्तं युक्तमुपयोगयोग शुद्धिभ्याम्।
लिंग न परोक्षमपुनर्भवंकारणं जैनम्॥२०६॥

—इसप्रकार जैनशासन के भावलिंगी मुनिओं की अंतर्बाह्यदशा कैसी होती है, वह भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवादि संतों ने ढिंढोरा पीट-पीटकर घोषित किया है। इससे विरुद्ध मुनिदशा कोई माने—वस्त्रादि परिग्रह रखकर भी मुनित्व मनाये तो उसका निषेध करते हुए 'सूत्र पाहुड़' में कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि—

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्तेसु।
जइ लेई अप्पबहुयं तत्तो पुण जाई णिगोदम्॥१८॥

इसका भावार्थ यह है कि—मुनि यथाजातरूप निर्ग्रंथ दिगम्बरमुद्रा के धारक होते हैं, उन्हें तिल-तुष मात्र परिग्रह का ग्रहण नहीं होता; तथापि जो जीव कुछ भी परिग्रह धारण करके मुनित्व मनाता है, वह निगोद में जाता है; क्योंकि उस जीव को जिनसूत्र की श्रद्धा न होने से वह मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यात्व का फल निगोद है।

मुनिदशा की अलौकिक महिमा है। अहो! मुनिवर तो केवली प्रभु के पड़ौसी है; वे पंचपरमेष्ठी पद में युक्त हो गये हैं, और केवलज्ञान लेने की तैयारीवाले हैं—मानो अभी हाल श्रेणी लगाकर केवलज्ञान लिया या लेंगे—ऐसी उनकी आत्माजागृति है।—ऐसे मुनिवर मंगलरूप हैं, लोक में उत्तम हैं और भव्यजीवों को शरणरूप हैं। इस धन्यदशा में दुःख या क्लेश नहीं है परन्तु सिद्ध भगवान जैसा अपूर्व महा आनन्द है। ऐसी मुनिदशा में बड़ा दुःख है—ऐसा जो मानता है, वह मूढ़ है; उसे मुनि की अद्भुत अंतर्दशा का भान नहीं है। यह मोक्षमार्गी मुनिवर आगम चक्षुवाले होते हैं; उसका वर्णन करते हुए प्रवचनसार में (गाथा २३४ की टीका में) कहते हैं कि—सर्वतः चक्षुपने की सिद्धि के लिये भगवन्त श्रमण के आगमचक्षु होते हैं। वे उस आगमरूप चक्षु द्वारा स्व-पर का विभाग करके, महा मोह को जिन्होंने भेद डाला है—ऐसे वर्तते हुए परमात्मा को प्राप्त करके, सतत ज्ञाननिष्ठ ही रहते हैं।

अहो! धन्य है उन मुनिवरों को...! संयमसुधासागर में झूलते हुए उन संतों के पावनकारी चरणों में भक्तिपूर्वक नमस्कार हो...!

"णमो लोए सव्व साहूणं" ●●●

आत्मा कौन है और
कैसे प्राप्त होता है ?

लेखांक १७] [अंक ११३ से आगे

प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उस पर परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के विशिष्ट अपूर्व प्रवचन का सार

★ जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि—'प्रभो ! आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?'

★ श्री आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि—'आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है और अनंतनयात्मक श्रुतज्ञान प्रमाण पूर्वक स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है।'

★ उस आत्मद्रव्य का ४७ नयों से वर्णन किया है, उसमें से २६ नयों के प्रवचन अभीतक आ गये हैं; उसके आगे यहाँ दिये जा रहे हैं।

[२७] अनियतिनय से आत्मा का वर्णन

नियतिनय से आत्मा के एकरूप द्रव्यस्वभाव का वर्णन किया; अब अनियतिनय से पर्याय की बात करते हैं। आत्मद्रव्य अनियतिनय से अनियतिस्वभावरूप भासित होता है; जिसप्रकार पानी में उष्णता नियमित नहीं है परन्तु अग्नि के निमित्त पाकर कभी-कभी उसमें उष्णता आ जाती है, उसीप्रकार अनियतिनय से आत्मा, रागादि अनियतिस्वभावरूप ज्ञाता होता है।

पानी का स्थायी स्वभाव ठण्डा है, वह नियत है, और उष्णता उसके ठण्डे स्वभाव से विपरीत दशा है; वह उष्णता पानी में नित्यस्थायी रहनेवाली नहीं है; इसलिये अनियत है; उसीप्रकार आत्मा की अवस्था में रागादि विकारी भाव होते हैं, वे स्थायी रहनेवाले नहीं है परन्तु क्षणिक हैं; इसलिये वह अनियत है। ऐसा अनियतपना भी आत्मा का एक धर्म है। परन्तु "होना नहीं था और हो गया"—ऐसा यहाँ अनियत का अर्थ नहीं है। रागादि को अनियत कहा, इसलिये कहीं पर्याय का क्रम टूट जाता है—ऐसा नहीं है; जो रागादि हुए, वे कहीं पर्याय का क्रम टूटकर नहीं हुए हैं। पर्याय के क्रम की अपेक्षा से रागादि भी नियत क्रम में ही हैं; परन्तु रागादि अशुद्धभाव हैं, वह आत्मा का स्थायी स्वभाव नहीं है, इसलिये उसे अनियतस्वभाव कहा है। अनियतनय से

देखें तो उसमें भी क्रमबद्धपर्याय का फेरफार होना नहीं आता; पर्याय का क्रम तो नियत ही है।

गोम्मटसार में एकान्त नियतवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है, वह तो अलग बात है और यहाँ अलग बात है। गोम्मटसार में जिस नियतवाद को मिथ्यादृष्टि कहा है, वह तो नियत के नाम से मात्र स्वच्छन्द का सेवन करता है; परन्तु नियत के साथ अपना ज्ञातास्वभाव है, उसे वह जानता नहीं है, स्वसन्मुख होने के पुरुषार्थ को और सर्वज्ञ को मानता नहीं है, परसन्मुख ही रुचि रखता है किन्तु अनंतस्वसामर्थ्यमय ज्ञानस्वभाव की रुचि नहीं करता; स्वभाव की सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान के पुरुषार्थ को वह स्वीकार नहीं करता, अपनी निर्मलपर्यायरूप स्वकाल को वह जानता नहीं है, और निमित्त में कितने कर्मों का अभाव हुआ है, उसे भी वह नहीं समझता।—इसप्रकार किसी प्रकार के मेल बिना मात्र नियत की बातें करके स्वच्छन्दी होता है; नियत के साथ के पुरुषार्थ आदि समवायों को वह मानता नहीं है और श्रद्धा-ज्ञान का सम्यक् पुरुषार्थ प्रगट नहीं करता; इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है, परन्तु सम्यक्दृष्टि तो नियत के साथ-साथ सर्वज्ञ का भी निर्णय करता है और "मैं ज्ञातास्वभाव हूँ"—ऐसा भी स्वसन्मुख होकर प्रतीति करता है; इसलिये नियत के निर्णय में उसे सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान का पुरुषार्थ भी साथ ही है; उससमय निर्मलपर्यायरूप स्वकाल है तथा निमित्त में मिथ्यात्वादि कर्म का अभाव है; इसप्रकार सम्यग्दृष्टि को एकसाथ पाँच समवाय आ जाते हैं। नियत के निर्णय के सम्बन्ध में मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि का यह महान अन्तर है, वह अज्ञानी नहीं समझ सकते; इसलिये भ्रम से दोनों में समानता लगती है, परन्तु वास्तव में तो उन दोनों में आकाश-पाताल जितना अंतर है।

"मैं ज्ञायक हूँ"—इसप्रकार अपने ज्ञानस्वभाव की जिसे प्रतीति नहीं है और जो पर में फेरफार करने के मिथ्याभिमान का सेवन कर रहा है, वे यह नियतवस्तुस्वभाव की यह बात सुनते ही भड़के उठते हैं कि 'अरे! क्या सब नियत है!! हमारे पुरुषार्थ से कुछ फेरफार नहीं हो सकता?" यानी उसे ज्ञाता नहीं रहना है किन्तु फेरफार करना है;—यह बुद्धि ही मिथ्यात्व है। अज्ञानी मानता है कि वस्तु की पर्याय नियत नहीं है, अर्थात् निश्चित नहीं है; उसमें हम अपनी इच्छानुसार परिवर्तन कर सकते हैं;—यह उसकी मान्यता मिथ्या है; क्योंकि वस्तु की पर्यायों में ऐसा अनियतपना नहीं है कि वे आगे-पीछे हो जायें! यहाँ आत्मा के अनियत धर्म का वर्णन करते हैं, उसमें तो अलग बात है; कहीं उसमें पर्याय के क्रम में परिवर्तन करने की बात नहीं है।

अज्ञानी मानता है कि इस अनियतनय में तो हमारी मान्यतानुसार वस्तु की क्रमबद्धपर्याय में

फेरफार होना आयेगा!—परन्तु ऐसा नहीं है; किसी पर्याय का क्रम तो फिरता ही नहीं है—इस नियम को अबाधित रखकर ही सब बात है। द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर, आत्मा शुद्धरूप दिखाई देता है और पर्याय-दृष्टि से देखने पर अशुद्ध दिखाई देता है, वह अशुद्धता आत्मा का अनियतस्वभाव है; क्षणिक अशुद्धता को भी आत्मा स्वयं अपनी पर्याय में धारण कर रखता है।

आत्मा के अनियत धर्म को कौन मान सकता है ?

आत्मा एकान्त शुद्ध है, उसकी पर्याय में भी विभाव नहीं है—ऐसा जो माने, उसने आत्मा के अनियत धर्म को नहीं जाना है; अथवा आत्मा की पर्याय में जो विकार है, वह पर के कारण होता है—ऐसा माने तो वह भी आत्मा के अनियत धर्म को नहीं जानता है; और पर्याय में जो क्षणिक विकार है, उसी को यदि आत्मा का स्थायी स्वभाव मान ले तो उसने भी आत्मा के अनियत धर्म को नहीं जाना है; पर्याय में जो विकार है, वह उसके अपने कारण से है; परन्तु वह आत्मा का त्रिकाल रहनेवाला स्वभाव नहीं है, परन्तु क्षणिक अशुद्धभाव है—ऐसा जो जाने, उसी ने आत्मा के अनियत धर्म को यथार्थरूप से माना कहा जाता है।

सर्व जीव, कर्म के वश हैं—ऐसा अज्ञानी मानता है, इसलिये कर्म ही जीव को विकार करता है—ऐसा वह मानता है, परन्तु आत्मा के अनियत धर्म को वह नहीं जानता है। रागादि विकार होता है, वह कहीं जड़कर्म का धर्म नहीं है परन्तु वे रागादि, आत्मा की ही अवस्था में होते हैं; इसलिये आत्मा का ही अनियत धर्म है। तत्त्वार्थसूत्र में भी औदयिकभाव को भी आत्मा का स्वतत्व कहा है। रागादि भाव आत्मा का अनियतधर्म है, वह कहीं कर्म के वश नहीं है; आत्मा का वह धर्म कहीं जड़कर्म के कारण नहीं है।

''आत्मा की पर्याय में विकार नहीं होना था, किन्तु बहुत से कर्मों का एकसाथ उदय आया; इसलिये विकार हुआ''—ऐसा अनियतपना नहीं है; परन्तु आत्मा के स्वभाव का जो एकरूप नियम है, वैसा पर्याय में नहीं है; इसलिये पर्याय के विकार को अनियत कहा है। चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा त्रिकाल है, उसकी अवस्था में विकार और संसार है, वह अनियतस्वभाव से है; एक समयपर्यंत का अनिश्चित् है, इसलिये वह आत्मा में सदैव नहीं रहेगा, और शुद्धस्वभाव तो सदैव ज्यों का त्यों रहनेवाला है; उस स्वभाव की महिमा करके उसके सन्मुख रहने से पर्याय में अनियत ऐसा संसार दूर हो जायेगा। इसलिये हे जीव! मैं ज्ञायक आनंदकंदस्वभाव से नियत हूँ और अवस्था का विकार, वह अनियत है—ऐसी प्रतीति करके स्वभावोन्मुख हो! विकार, आत्मा में

स्थायी रहनेवाला भाव नहीं है, इसलिये पर्याय में भले ही चाहे जितना विकार हो, उससे तू अकुलाना मत, परन्तु उस विकार की तुच्छता जान, और नित्यस्थायी शुद्ध नियतस्वभाव की महिमा लाकर उसके सन्मुख दृष्टि करके उसमें स्थिर हो!—ऐसा करने से, जैसा नित्य-स्थायी शुद्धस्वभाव है, वैसी शुद्धता पर्याय में प्रगट हो जायेगी और विकार नष्ट हो जायेगा। आत्मा के शुद्धस्वभाव के आश्रय से अनियत जो विकार है, वह दूर हो जाने योग्य है, परन्तु पर्याय के क्षणिक विकार से कहीं आत्मा के नियतस्वभाव का नाश नहीं हो जाता। रागादि विकार तो क्षणिक अनियत नाशवंत है, वे शरणभूत नहीं हो सकते, और द्रव्य का नियतस्वभाव तो सदा शुद्ध है; उसकी शरण में जाने से जीव की शांति और कल्याण होता है। इसप्रकार नियतस्वभाव और अनियतस्वभाव—इन दोनों से आत्मा को जानकर उसके ध्रुव स्वभाव का आश्रय करना, वह प्रयोजन है।

भाई! तेरा द्रव्यस्वभाव शुद्धचैतन्यमय है, वह नियत है और पर्याय में विकारी संसारभाव है, वह अनियत है; इसलिये वह दूर हो जायेगा। नियत शुद्धस्वभाव की दृष्टि करने से अनियत विकारी भाव दूर हो जायेगा। शुभाशुभ विकार तेरा क्षणिक पर्याय-धर्म है तो भी वह अनियत है, इसलिये वह पानी की उष्णता की भाँति दूर हो जाता है। अग्नि की उष्णता, वह उसका नियतस्वभाव है; इसलिये वह दूर नहीं होता, परन्तु पानी की उष्णता अनियत है, इसलिये वह दूर हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा का शुद्धचैतन्यमय द्रव्यस्वभाव तो नियत है, उसका कभी नाश नहीं होता, और पर्याय का विकार अनियतस्वभावरूप है, इसलिये वह दूर हो जाता है। इसलिये पर्याय में एकसमय का विकार देखकर आकुलित मत हो, क्योंकि सारा द्रव्य विकाररूप नहीं हो गया है; द्रव्य तो नित्य शुद्धस्वभावरूप है ही, उसकी दृष्टि करने से विकार दूर हो जायेगा और शुद्धता प्रगट हो जायेगी। पर्याय का स्वभाव अनियत है—ऐसा जानकर उसका आश्रय छोड़, और द्रव्य का स्वभाव नियत है—ऐसा जानकर उसका आश्रय कर। अहो! मैं सदैव एकरूप परमपारिणामिकभाव से नियत हूँ—ऐसा जानकर स्वाश्रय करने से सम्यग्दर्शनादि अपूर्वभाव प्रगट हो जाता है।

आत्मा सदैव चैतन्य प्रभुता से परिपूर्ण है—ऐसा नियतनय देखता है, और पर्याय में पामरता है, उसे अनियतनय देखता है। यह दोनों धर्म आत्मा में एकसाथ हैं। आत्मा के ऐसे दोनों धर्मों को जो जानता है, उसका बल पूर्ण स्वभाव की पूर्णता की ओर ढले बिना नहीं रहता; इसलिये द्रव्य की प्रभुता के बल से पर्याय की पामरता का नाश हुए बिना नहीं रहता।

द्रव्यस्वभाव में विकार नहीं है और पर्याय में विकार हुआ, तो वह कहाँ से आया?—क्या

कर्म के कारण आया? नहीं; विकार भी आत्मा का ही अनियत धर्म है; आत्मा की पर्याय में उसप्रकार की योग्यता है। अग्नि के संयोग के समय पानी गर्म हुआ, वह अग्नि के कारण नहीं हुआ है परन्तु पानी की पर्याय में उसप्रकार की योग्यता है; वह उष्णता पानी का अनियतधर्म है; उसीप्रकार आत्मा में जो रागादि पर्याय होती है, वह उसका अनियतधर्म है। यदि उस एकधर्म को भी निकाल दें या पर के कारण मानें तो सारी आत्मवस्तु ही सिद्ध नहीं होती अर्थात् सम्यग्ज्ञान नहीं होता। जिसप्रकार सौ वर्ष की उम्र का कोई व्यक्ति हो; उसके साथ वर्ष में से बीच का एक समय भी निकाल दिया जाये तो उस व्यक्ति की सौ वर्ष की अखण्डता नहीं रहती, परन्तु उसके दो टुकड़े हो जाते हैं; उसीप्रकार आत्मा अनंतधर्मों का अखण्ड पिण्ड है; उसमें से उसके एक भी अंश को निकाल दें तो अखण्ड वस्तु सिद्ध नहीं होता।

यहाँ नय से जिन-जिन धर्मों का वर्णन किया है, वे धर्म आत्मा के हैं; इसलिये नयज्ञान स्व की ओर देखता है। पर की ओर देखने से आत्मा के धर्मों का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, परन्तु आत्मा की ओर उन्मुख होने से ही उसके धर्मों का यथार्थ ज्ञान होता है।

केवली भगवान को तेरहवें गुणस्थान में योग का कम्पन है, वह उनका अनियतधर्म है; अघातिकर्म के कारण वह कंपन नहीं है। योग का कम्पन भी आत्मा का अपना औदयिकभाव है; वह भी स्वतत्व का धर्म है। द्रव्य और पर्याय दोनों मिलकर प्रमाण हैं, पर्याय का धर्म भी आत्मा का अपना धर्म है; पर्याय का धर्म कहीं पर के आधार पर अवलम्बित नहीं है। पर्याय में जो विकार हुआ, उस पर्यायरूप से कौन भासित होता है?—अनियतनय से आत्मद्रव्य स्वयं ही विकाररूप भासित होता है; कहीं परद्रव्य विकाररूप भासित नहीं होता।

वस्तु के अनंतधर्मों को सर्वज्ञदेव प्रत्यक्ष जानते हैं; और साधक सम्यग्ज्ञानी उन्हें प्रतीति में लेते हैं। यह धर्म पूर्णरूप अपनी आत्मा की प्रतीति कराते हैं; धर्मी आत्मा की प्रतीति के बिना धर्म की प्रतीति नहीं होती। यह तो वीतरागता के मंत्र हैं।

प्रमाणज्ञान कराने के लिये द्रव्य और पर्याय दोनों की बात साथ ही साथ ली है। नियतनय, द्रव्य अपेक्षा से आत्मा के नियतस्वभाव को देखता है और उसीसमय पर्याय की अपेक्षा से आत्मा में अनियतस्वभाव भी है; उसे देखनेवाला अनियतनय है। आत्मा की पर्याय में भूल और विकार सर्वथा हैं ही नहीं—ऐसा नहीं है; भूल और विकार भी आत्मा का अपना अनियतस्वभाव है, और आत्मा का स्थायी स्वभाव भूलरहित चैतन्यस्वरूपी है। वस्तु में जैसा हो, वैसा ही यदि न जाने तो

ज्ञान की महिमा क्या ? और उसकी प्रमाणता क्या ? आत्मा के विकाररहित त्रिकालीस्वभाव को ज्ञान जानता है। यदि स्वभाव और विकार—दोनों को न जाने तो विकार में से एकाग्रता दूर होकर स्वभाव में एकाग्र होना नहीं रहता, और सम्यग्ज्ञान भी नहीं होता, इसलिये किसीप्रकार का धर्म नहीं होता।

द्रव्यरूप से तो आत्मा सदैव एकरूप नियतस्वभाव से है, और उसकी पर्याय में हीनाधिकता के अनेक प्रकार होते हैं; इसलिये अनियतपना भी है। पर्याय में अनेक प्रकार और विकार हैं, उन्हें यदि न जाने तो ज्ञान सम्यक् नहीं होता। जिसप्रकार अग्नि में उष्णता तो नियत है, और पानी में उष्णता अनियत है, इसलिये कभी होती है और कभी नहीं भी होती। पानी का स्थायी स्वभाव नित्य ठण्डा होने पर भी उसकी वर्तमान पर्याय में उष्णता, वह उसका अपना अनियतस्वभाव है; उष्णतारूप होने की उसकी अपनी क्षणिक योग्यता है; यदि उस अनियत उष्णस्वभाव को न जाने और पानी को एकान्त ठण्डा मानकर पीने लग जाये तो क्या होगा ?—मुँह जल जायेगा ! उसीप्रकार चैतन्य भगवान आत्मा उपशमरस का समूद्र नियतस्वभाव से सदा शुद्ध एकरूप होने पर भी उसकी व्यक्त पर्याय में जो रागादि हैं, वह भी उसका एकसमय का अनियतस्वभाव है। अपनी पर्याय में वे रागादि हैं—ऐसा यदि न जाने और आत्मा को सर्वथा शुद्ध माने तो उसे शुद्धता का अनुभव तो नहीं होगा परन्तु मात्र रागादि की आकुलता का ही अनुभव होगा। आत्मा की पर्याय में जो क्षणिक विकार होता है, वह उसका अनियतस्वभाव है और वह ''अनियतनय'' का विषय है, वह आत्मा का स्थायी स्वभाव नहीं है। परन्तु यदि वह विकार एकसमयपर्यंत भी पर्याय में न होता हो तो उसे दूर करके स्वभाव में एकाग्र होने का प्रयत्न करना नहीं रहता; अर्थात् मोक्षमार्ग ही नहीं रहता। इसलिये द्रव्य और पर्याय—दोनों का यथार्थ ज्ञान हो, तभी मोक्षमार्ग की साधना हो सकती है।

वस्तु में नियत और अनियत दोनों धर्म हैं। वस्तु का जो सदैव एकरूप रहनेवाला स्वभाव है, वह नियत है और जो क्षणिक स्वभाव है, वह अनियत है। परन्तु क्रमबद्धपर्याय में जो पर्याय होना हो, उसके बदले उल्टी-सीधी होकर अनियत हो जाये—ऐसा यहाँ अनियत का अर्थ नहीं है। जिसप्रकार द्रव्य नियत है, उनके जड़-चेतनादि गुण नियत हैं, उसीप्रकार उनकी समय-समय की पर्यायें भी नियत हैं। पर्यायों का क्रम कहीं अनियत नहीं है; जिससमय जो पर्याय नियम से होगी। सर्वज्ञ उसे जानते हैं। सर्वज्ञ का ज्ञान अन्यथा नहीं होता और वस्तु की पर्यायों का क्रम भी नहीं टूटता। अहो ! इस निर्णय में स्वतंत्र वस्तु स्वभाव का निर्णय आ जाता है, और पुरुषार्थ की उन्मुखता

पर की ओर से हटकर अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर हो जाती है। वह अंतर्दृष्टि की बात है। अनेक लोग अपनी कल्पितदृष्टि के अनुसार शास्त्र पढ़ जाते हैं, परन्तु पात्रता और गुरुगम के अभाव में अंतर्दृष्टि का यह रहस्य नहीं समझ सकते। कोई तो ऐसा कहते हैं कि—"द्रव्यों की संख्या नियत है, उनके चेतन-अचेतन गुण नियत हैं, तथा प्रतिक्षण उनका किसी न किसी प्रकार का परिणमन होगा, वह भी नियत है; परन्तु अमुक समय में अमुक ही परिणमन होगा—यह बात नियत नहीं है; जैसे संयोग आयेंगे, वैसी अवस्था होगी।" देखो, ऐसा कहनेवाले को स्वतंत्र वस्तुस्वरूप की कोई खबर नहीं है और सर्वज्ञ की भी श्रद्धा नहीं है। यह बात पहले कई बार विस्तारपूर्वक कही जा चुकी है। "द्रव्य की शक्ति तो नियत है, परन्तु परिणमन किस समय कैसा होगा, वह अनियत है;—इसप्रकार नियत-अनियतपना, वह जैनदर्शन का अनेकान्तवाद है।"—ऐसा अज्ञानी लोग मानते हैं; परन्तु वह बात मिथ्या है; जैनदर्शन के अनेकान्तवाद का ऐसा स्वरूप नहीं है। नियत और अनियत का अर्थ तो जैसा कहा है, वैसा ही है। द्रव्यस्वभाव से आत्मा नियत शुद्ध एकरूप होने पर भी, उसकी पर्याय में जो विकार होता है, वह उसका अनियतस्वभाव है; विकार नित्य एकरूप रहनेवालाभाव नहीं है, इसलिये उसे अनियत कहा है—ऐसा समझना चाहिये।

नियतधर्म से देखने पर आत्मा सदैव एकरूप शुद्ध ही भासित होता है और अनियतधर्म से देखने पर वह विकारी भी है, अनेकरूप है। यदि आत्मा में अपने में अनियतरूप से विकार होने का धर्म न हो तो अनंत कर्म एकत्रित होकर भी उसे विकारी नहीं बना सकते। विकार अनियत होने पर भी, वह पर के कारण नहीं है परन्तु आत्मा का अपना भाव है। शुद्धस्वभाव त्रिकाल ध्रुव है, उसमें विकार नहीं है और पर्याय में हुआ; इसलिये उसे अनियत कहा है; परन्तु वह विकार होनेवाला नहीं था और हो गया—ऐसा अनियतस्वभाव नहीं है। पर्याय का जो नियतपना है, वह बात यहाँ नहीं ली है, यहाँ तो नियतरूप से त्रिकाली स्वभाव को लिया है और अनियतरूप से पर्याय की क्षणिक अशुद्धता ली है।

—यहाँ २७ वें अनियतनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

यहाँ प्रवचनसार के परिशिष्ट में पाँच समवाय के बोल लिये हैं परन्तु वे दूसरी शैली से लिये हैं; उनमें से नियत और अनियत धर्म का वर्णन किया; अब आत्मा के स्वभाव धर्म और अस्वभाव धर्म की बात करेंगे। पश्चात् काल तथा अकाल तथा पुरुषार्थ और दैव का भी वर्णन करेंगे।●●●

आज के युवक बंधुओं से.....

हे युवक बंधु!

जिसमें तेरे बुद्धि-बल का सदुपयोग हो—ऐसी एक हितकारी बात आज यहाँ तेरे लिये कह रहा हूँ!

हे बन्धु! तू अपने अभीतक के जीवन को विचारपूर्वक देख, और विचार कर कि अभी तक के जीवन में तूने ऐसा क्या किया है कि जिससे तेरा हित हो..... तुझे शांति हो और अपने जीवन की सफलता लगे।

—यदि अभी तक तूने अपने जीवन में ऐसा कोई कर्तव्य न किया हो और मिथ्यामार्ग में ही अपना जीवन बिताया हो तो हे बन्धु! अब तू जाग... जागकर दृढ़तापूर्वक कुछ ऐसा कार्य करने का उद्यमी बन कि जिससे तेरा हित हो और तेरे बुद्धि-बल की सफलता हो।

हे युवक बन्धु!

अब तुझे ऐसी जिज्ञासा होगी कि मुझे अपने बुद्धि-बल को ऐसे कौन-से कार्य में रोकना चाहिये जिससे मेरा हित हो और बुद्धि-बल की सफलता हो!!

सुन भाई! यदि तुझे हित कार्य करने की जिज्ञासा जाग्रत हुई है तो उसका कर्तव्य बतलाता हूँ।

हे जिज्ञासु!

प्रथम में प्रथम तू आस्तिक तो होगा ही। "आत्मा है, आत्मा को पूर्वजन्म है, मोक्ष है"—इतना तो तू अवश्य मानता ही होगा। यदि अभी तक तूने इस सम्बन्ध में विचार न किया हो तो अब इसी क्षण उसका विचार करके मान।

"आत्मा है, पूर्वजन्म है, अहितरूप बंधन है, बंधन के उपाय हैं, हितरूप मोक्ष है और मोक्ष के उपाय हैं"—ऐसी आस्तिक्यता (विश्वास) करने के पश्चात् तू अपनी स्वाधीनता जान कि मैं एक स्वाधीन जीव हूँ, मुझे न तो कोई बनानेवाला है और किसी के आधीन होकर गुण-दोष करना पड़े—ऐसा भी नहीं है; मेरे गुण या दोष, पुण्य या पाप, धर्म या अधर्म, हित या अहित, संसार या मोक्ष, सम्यक्त्व या मिथ्यात्व, ज्ञान या अज्ञान, सराग या वीतराग—सब मेरे ही हाथ में है।

ऐसी आत्म-स्वाधीनता जान लेने के पश्चात्—"जीव क्या वस्तु है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? कैसे कर्तव्य से उसका अहित होता है और कैसे कर्तव्य से हित?" वह

जानने की आवश्यकता है, और तुझे भी अवश्य ही वह जानने की जिज्ञासा होगी; इसलिये वह आगे कहूँगा।

❀ ❀ ❀

हे उत्साही युवक!

यदि तुझे अपने सांसारिक कार्यों में सफलता न मिली हो... संसार में चारों ओर की प्रतिकूलताओं से तू घिर गया हो... तो भी तू हतोत्साह मत होना-निराश मत होना... उलझन में पड़कर अपने जीवन के उत्साह को तोड़ मत डालना... किन्तु वैसे समय में अपने बुद्धि-बल को बराबर जाग्रत और स्थिर रखकर ऐसा विचार करना कि संसार में चाहे जैसी प्रतिकूलता का प्रसंग होने पर भी मुझसे अपने हित का उद्यम न हो सके—ऐसा कदापि नहीं हो सकता। किन्हीं संयोगों में ऐसी शक्ति नहीं है कि मेरे आत्मिक उत्साह बल को तोड़ सकें।

लौकिक शिक्षा या व्यापार, गृहवास या नौकरी आदि लौकिक कार्यों में सफलता या निष्फलता का कारण अलग-अलग है, और आत्मिक बल उससे बिलकुल अलग वस्तु है। इसलिये हे भाई! तुझसे पुनः पुनः कहना है कि जगत से तू भले ही निराश हुआ हो... किन्तु अपने आत्महित के उत्साह में निराश मत होना... इस समय इसी क्षण अपने बुद्धि-बल का उपयोग आत्महित के लिये करने का निर्णय कर। बस! यह निर्णय करते ही उसकी दृढ़ता के बल से तेरे जीवन में एक नई दिशा खुलेगी और ऐसी शांति होगी जो तुझे अभी तक न हुई हो।

जीवन में अनेकविध प्रतिकूलताओं का आना कोई असाधारण बात नहीं है, किन्तु उन प्रसंगों पर अपने बुद्धि-बल को स्थिर रखकर प्रतिकूलाओं के सन्मुख अपने आत्मिक उत्साह को टिका रखना और हितकर्तव्य में उद्यमी होना, वह सच्चा पुरुषार्थ है।

हे युवक भाई! आत्मबन्धु! यदि तुझे जगत के कार्यों में निष्फलता मिलती हो तो तू समझ कि तूने पूर्वजन्म में पापकार्य किये हैं; और जगत के कार्यों में सफलता मिलती हो तो तू ऐसा समझ कि वह तेरे पूर्वजन्म के पुण्य कार्यों का ही फल है।—परन्तु जिससे तेरे आत्मा का हित हो—ऐसा स्वाधीन धर्मकार्य तो तुझे इस जन्म में नये प्रयत्न से ही करना है। इसलिये हे बन्धु! तू अपने ही हित के लिये उस नये प्रयत्न की दिशा को समझने के लिये उद्यमी हो। इससे तेरा कल्याण होगा ही होगा।

—श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी

सम्पादकीय

धर्म के जिज्ञासुओं का कर्तव्य

''अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट करना, वह प्रत्येक जिज्ञासु का कर्तव्य है।'' पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों द्वारा, ''जीव को अपूर्व सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो''—उसका उपाय बतलाकर, जिज्ञासुओं को उनके परम कर्तव्य की बारंबार जागृति... प्रेरणा और उत्साह देते रहना इस ''आत्मधर्म'' का ध्येय है।

अनंत संसार में मनुष्यभव प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है; और मनुष्यभव प्राप्त करके आत्मा के हित की बुद्धि जागृत होना—सच्ची जिज्ञासा जागृत होना भी अति दुर्लभ है। यह दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके, अब मेरे आत्मा का हित कैसे हो ?... ऐसा कौन-सा कर्तव्य करूँ कि जिससे मेरा आत्मा इस भव दु:ख से छूट जाये ?—इसप्रकार अंतर में आत्महित की विचारणा करके उस के लिये सच्ची जिज्ञासा प्रगट करना चाहिये। यदि आत्महित की सच्ची जिज्ञासा जागृत हो तो वह आत्महित का मार्ग लिये बिना न रहे। जिन्हें आत्महित के लिये जिज्ञासा जागृत हुई हो, ऐसे जिज्ञासुओं का क्या कर्तव्य है, वह वहाँ दर्शाया गया है।

''हम धर्म करते हैं अथवा हमें धर्म करना है''—ऐसा तो कई लोग बारम्बार कहते रहते हैं; किन्तु धर्म का सच्चा स्वरूप क्या है और धर्म कैसे होता है—यह वे नहीं जानते। मात्र कुल परम्परा से रूढ़िगत चली आ रही क्रियाओं को वे धर्म मानते हैं और वैसी बाह्य क्रियाओं द्वारा अपने को धर्मी मान लेते हैं। वास्तविक धर्म का स्वरूप वे न तो समझते हैं, और न समझने की परवाह करते हैं;—ऐसे जीवों को धर्म का जिज्ञासु नहीं कहा जा सकता।

जिसके अन्तर में ऐसी भावना जागृत हो कि—अरेरे ! अनंतकाल में अपने आत्मा के हित के लिये अभीतक मैंने कुछ नहीं किया; आत्मा के हित का उपाय क्या है, यानी धर्म क्या है—उसका स्वरूप मैंने नहीं पहिचाना; अब यह दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके मुझे ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे मेरे आत्मा का हित हो।—ऐसी जिज्ञासापूर्वक जो जीव अपने हित के लिये धर्म का स्वरूप समझना चाहता है और उसे समझकर उसकी प्राप्ति का अन्तर प्रयत्न करना चाहता है—वह जीव धर्म का जिज्ञासु है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है; आत्मा का धर्म क्या है, अधर्म क्या है, और वह धर्म-अधर्म काहे से होता है, तथा देव-गुरु-शास्त्र का वास्तविक

स्वरूप क्या है—उसका यथार्थ निर्णय जिज्ञासुओं को सत्समागम से अवश्य करना चाहिए; तत्व का यथार्थ निर्णय किये बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं हो सकता।

तत्व का सभी पक्षों से बराबर निर्णय करने के पश्चात् अन्तर्स्वभाव सन्मुख होने के सतत प्रयत्न द्वारा अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट करना—वह प्रत्येक जिज्ञासु का परम कर्तव्य है। इसलिये, इस आत्मधर्म में पूज्य गुरुदेव के जो प्रवचन दिये जाते हैं, उनमें मुख्यतः ''जीव को अपूर्व सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कैसे हो''—उसका उपाय बतलाया जाता है। पूज्य गुरुदेव के सर्व प्रवचनों का मध्य बिन्दु... यानी समस्त जैन शासन का मूलभूत बीज... ''सम्यग्दर्शन'' ही है। इसलिये जिज्ञासुओं को उसका स्वरूप बराबर स्पष्टरूप से जानकर, तद्रूप परिणमित होने का अहर्निश उद्यम करना वह कर्तव्य है। और जिज्ञासुओं को उनके परमकर्तव्य की जागृत... प्रेरणा और उत्साह देते रहना वह ''आत्मधर्म'' का ध्येय है। सम्यग्दर्शन कहो या शाश्वत् सुख का उपाय कहो—उसे यह आत्मधर्म मासिक बतलाता है, इसलिये इस 'आत्मधर्म' को ''शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र'' कहा जाता है।

❀ ❀ ❀

'धर्म' कोई सामान्य लौकिक वस्तु नहीं है, किन्तु वह तो अलौकिक अपूर्व भाव है। लोकव्यवहार में तो दया-दान-सेवादि साधारण भावों को धर्म कह दिया जाता है, किन्तु वह लोकोत्तर धर्म नहीं है, यानी वास्तविक धर्म का स्वरूप वैसा नहीं है। आर्यभूमि में और सुकुल में जन्मे हुए जीवों को—दया, कोमलता, दूसरों को दुःखी न करना, चोरी न करना, स्वस्त्री में संतोष रखना, सत्य बोलना, तीव्र हिंसा या क्रूरता ना करना,—इत्यादि लौकिक सज्जनता के भाव तो सामान्यरूप से होते ही हैं,—अब यदि ऐसे लौकिक भावों को (शुभभावों को) ही धर्म का स्वरूप मान लिया जाये तो सर्व लौकिक सज्जन मनुष्य भी धर्मात्मा सिद्ध हों, और धर्म की लोकोत्तरता या अपूर्वता न रहे। किन्तु धर्म तो सर्व लौकिक भावों से बिलकुल पृथक् अपूर्व भाव है। लौकिक आचरण सुधारकर पुण्यभाव से स्वर्ग में तो जीव पूर्वकाल में अनंत बार गया है, किन्तु धर्म का अपूर्व लोकोत्तर भाव पूर्वकाल में कभी प्रगट नहीं किया।

धर्म की अपूर्वता के सम्बन्ध में श्री कुंदकुंदाचार्यदेव कहते हैं कि—

मिथ्यात्व प्रभृति भावाः पूर्व्वं जीवने भाविताः सुचिरम्
सम्यक्त्व प्रभृति भावाः अभाविता भवन्ति जीवेन॥९०॥

मिथ्यात्वादि भाव तो जीव ने पूर्व भवों में दीर्घकाल तक भाये हैं; किन्तु सम्यक्त्वादिभाव पूर्वकाल में कभी नहीं भाये। इसलिये अब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय की भावना कर्तव्य है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे आत्मन्! तू इस दीर्घ संसार में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की प्राप्ति बिना भटका है; इसलिये अब तू रत्नत्रय को अंगीकार कर—

रयणत्तये अलद्धे भमिओसि दीहसंसारे।
इव जिणवरेहिं भणियं तं रयणत्तं समायरह॥

(—भावप्राभृत गाथा ३०)

हे जीव! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को प्राप्त न करने से तूने इस दीर्घ संसार में परिभ्रमण किया है; यह जानकर अब तू उस रत्नत्रय का आचरण कर;—ऐसा श्री जिनेश्वरदेव ने कहा है।

सर्व गुणों में सारभूत ऐसे सम्यग्दर्शन को धारण करने का उपदेश देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—

एवं जिण पण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स॥

(—दर्शन प्राभृत गाथा २१)

पूर्वोक्त प्रकार से जिनेश्वरदेव का कहा हुआ जो सम्यक्दर्शन है, वह सर्व गुणों में और दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय में सार है; उत्तम है, और मोक्षरूपी महल में चढ़ने की प्रथम सीढ़ी है। इसलिये हे भव्य जीवो! तुम उस सम्यग्दर्शन को अंतरंग भाव से धारण करो।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! यदि तुझमें सामर्थ्य हो तो तू सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों करना, और यदि तुझ में उतना सामर्थ्य न हो तो सच्ची श्रद्धारूप सम्यक्त्व तो तू अवश्य करना। सम्यक्त्व से भी तेरा आराधकपना बना रहेगा। इसलिये श्रद्धा अवश्य ही कर्तव्य है।

आत्मा में ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करना, वह प्रत्येक जिज्ञासु का कर्तव्य है; और जबतक आत्मा में ऐसे शुद्ध सम्यक्त्व का परिणमन न हो, तबतक आराम लिये बिना दिन-रात उस के लिये अंतर्विचार—मंथन—अभ्यास का प्रयत्न करना ही कर्तव्य है। ●●●

निश्चय-व्यवहार और उपादान-निमित्त

जिसप्रकार निमित्त के कारण से कार्य नहीं होता, उसीप्रकार व्यवहार के अवलम्बन से परमार्थ की प्राप्ति नहीं होती। निमित्त के कारण से कार्य होता है और व्यवहार करते-करते उसके अवलम्बन से निश्चय की प्राप्ति हो जाती है—ऐसा माननेवाले—दोनों-एक ही प्रकार की मान्यता वाले मिथ्यादृष्टि हैं।

व्यवहार का अवलम्बन करने से सम्यग्दर्शन हो सकता है ?—नहीं हो सकता।

जिसप्रकार व्यवहारनय अनुसरण-योग्य नहीं है, उसीप्रकार निमित्त भी अनुसरण-योग्य नहीं है। व्यवहार और निमित्त दोनों अभूतार्थ हैं। निमित्त का तो आत्मा में त्रिकाल अभाव है, और व्यवहार एक समयपर्यंत पर्याय में है किन्तु त्रिकाली स्वभाव में उसका अभाव है;—इसप्रकार दोनों अभूतार्थ हैं, इसलिये अनुसरण-योग्य नहीं हैं; उनपर जोर देने से सम्यग्दर्शन नहीं होता। अनेकप्रकार के निमित्त और व्यवहार भले हों, किन्तु उन किसी के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन नहीं होता। भूतार्थ स्वभाव के अवलम्बन से ही सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यग्दर्शन का एक ही नियम है कि जहाँ-जहाँ सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ-वहाँ उपादान की शक्ति से ही होता है; और जिसे-जिसे सम्यग्दर्शन होता है, उसे भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से ही सम्यग्दर्शन होता है। अंतर में उतरकर जिस समय ज्ञायकस्वभाव को दृष्टि में लिया, उसीसमय सम्यग्दर्शन है; वहाँ सर्व निमित्त और व्यवहार एक ओर रह जाते हैं, यानी उन सबका अवलम्बन छूट जाता है।

[मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के प्रवचन से]

नियमसार और उसके कर्ता

श्री नियमसार परमागम के कर्ता श्रीमद् भगवत् कुंदकुंदाचार्यदेव विक्रम संवत् के प्रारम्भ में हो गये हैं। निर्ग्रंथ आचार्य भगवन्तों में भगवान कुंदकुंदाचार्य अग्रपद पर विराजमान हैं। वे अत्यन्त अध्यात्मलीन, वीतराग दर्शन के परम मर्मज्ञ, श्रुतज्ञान के महासागर समान और अनेक लब्धियों के निवासभूत महामुनि थे। उन्होंने त्रिलोक पूज्य भगवान महावीर के समय से चले आ रहे मोक्षमार्ग के ज्ञान को परमपवित्र परमागमों में सुरक्षित रखकर भव्य जीवों पर अपार उपकार किया है। उन्हें भगवान महावीर का ज्ञान आचार्यों की परम्परा से प्राप्त हुआ था—इतना ही नहीं, परन्तु आठ दिनतक महाविदेहवासी श्री सीमंधर भगवान की दिव्यध्वनि को साक्षात् श्रवण करने का महान् सौभाग्य भी उन्हें प्राप्त हुआ था। भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव द्वारा रचित अनेक शास्त्रों में से श्री नियमसार भी एक उत्तम आध्यात्मिक शास्त्र है; उसमें परमशांत रसमय आध्यात्मिक गूढ़ भाव भरे हैं। नयाधिराज निश्चयनय का उसमें अलौकिक निरूपण है। शुद्ध जीव, निश्चय-व्यवहार चारित्र, निश्चयप्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान—आलोचना—प्रायश्चित, परम समाधि, शुद्धोपयोग—इत्यादि का स्वरूप उसमें सुन्दर ढंग से समझाया गया है कि—जिससे मुमुक्षुओं की वृत्ति क्षणिक भावों की ओर से हटकर शुद्ध द्रव्य-सन्मुख होकर निजानंद में लीन हो जाए।

इस शास्त्र की मूल गाथायें १८७ हैं। उन गाथाओं पर निर्ग्रंथ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने विस्तृत संस्कृत टीका की रचना की है। टीकाकार महासमर्थ अध्यात्मरत मुनि-भगवान हैं। टीका करते समय उन्होंने अध्यात्मरस का अद्भुत रीति से मंथन किया है; परमपारिणामिकभाव, कारणपरमात्मा इत्यादि को अति अलौकिक रीति से गाया है। टीका गद्यरूप में है और उसमें अनेक अध्यात्मरस झरते हुए मधुर पद हैं। टीकाकार मुनि भगवंत ने मूल शास्त्रकार के आशय को अत्यन्त स्पष्ट करके परम उपकार किया है।

[—गुज. नियमसार की प्रस्तावना से]

महान तत्त्वार्थ-शास्त्र

हिन्दी भाषा में छपकर तैयार हो गया है

मोक्षाशास्त्र (सूत्रजी)

जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली में किया गया है और जिज्ञासुओं को समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर नयप्रमाण से सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं।

तत्त्वप्रेमियों को यह ग्रन्थ पढ़ने योग्य है। अत: इसका मूल्य लागतमूल्य से भी २ रुपये कम रखा गया है।

पृष्ठ संख्या - करीब ९००

मूल्य पांच रुपया, पोस्टेज अलग

— प्राप्तिस्थान —

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

दसलक्षणधर्म के प्रवचन सहित:—

आत्मधर्म की फाईल

आत्मधर्म की पाँचवें वर्ष की फाईल, जिसमें दसलक्षण धर्म के प्रवचन भी समाविष्ट हैं, उसका मूल्य ३-१२-० के बदले में सिर्फ २-१२-० रखा गया है।

(पोस्टेज अलग)

—: प्राप्तिस्थान :—

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक
प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	मूल में भूल	।।।)
समयसार प्रवचन भाग २	५)	मुक्ति का मार्ग	।।=)
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	अनुभवप्रकाश	॥)
समयसार (हिंदी)		अष्टपाहुड़	३)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	१०)	चिद्विलास	१=)
प्रवचनसार हिंदी		दसलक्षणधर्म	।।।)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	जैन बालपोथी	।)
आत्मावलोकन	१)	लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका	।) ।।
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१ ।=)	सम्यक्दर्शन	२)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	स्तोत्रत्रयी	।=)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५॥)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार पद्यानुवाद	।)	पंचमेरु पूजन	।।।)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=) ॥		
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)		

आत्मधर्म फाइलें
१-२-३-५-६-७ वर्ष — प्रत्येक का ३॥)

कुछ फाईलों का मूल्य २२॥) होता है लेकिन एक साथ लेने पर १७॥)

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर।
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये-जमनादास माणेकचंद रवाणी।